शोध संचयन
A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research
ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net
Vol. 10
Issue 2
15 July 2019

भूमंडलीकरण दौर के हिंदी उपन्यासों में भारतीय समाज के बदलते रूप

बीज शब्द :

भूमंडलीकरण, हिंदी उपन्यास, भारतीय समाज, बाजारवाद, उपभोक्तावाद

साहित्य समाज का दर्पण होता है। यह उक्ति भले ही कितनी ही पुरानी क्यों न हो इसमें निहित अर्थ आज भी जीवंत है। समाज में घटने वाली प्रत्येक घटना को साहित्य में किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य मिलता है। भूमंडलीकरण की परिघटना भी एक ऐसी परिघटना है जिसने भारतीय इतिहास में एक अमिट छाप छोड़ी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् बिगड़ती अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने की दृष्टि से भूमंडलीकरण की नीति को यह सोचकर अपनाया गया था कि यह पूरे देश में एक ऐसी संस्कृति विकसित करेगी जो मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए प्रतिबद्ध होगी किंतु हुआ इसके ठीक विपरीत। भूमंडलीकरण एक ऐसी अवधारणा के रूप में समाज के समक्ष प्रकट हुआ जिसके मूल में बाजार, उपभोग, पूंजीवाद की संस्कृति का ही बोलबाला है। इसने मनुष्य से उसके मनुष्य होने का गुण छीन लिया है और उसे एक ऐसी अंधी गुफा में धकेल दिया है जिसमें प्रकाश की धीमी लौ भी मिलना अत्यंत मुश्किल है। इसने भारतीय समाज को इस हद तक परिवर्तित कर दिया है कि उसकी परंपराएँ, आदर्श, जीवन मूल्य, नैतिकता आदि का पतन होने लगा है। हिंदी उपन्यास भी इससे अछूता नहीं रहा है उपन्यासकारों ने इन्हीं पतन होते हुए मूल्यों पर अपनी दृष्टि डाली और अपने उपन्यासों में इसके प्रभाव को बड़ी बारीकी से प्रस्तुत किया है।

*****

निवेदिता सिंह
शोध छात्रा
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

भूमंडलीकरण दौर के हिंदी उपन्यासों में भारतीय समाज के बदलते रूप

बीसवीं सदी के अंतिम दशक की शुरुआत में भारतीय इतिहास में एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण आर्थिक घटना घटित हुई जिसे भूमंडलीकरण की संज्ञा दी जाती है। 1991 में भारत सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था को सुचारु गति प्रदान करने के लिए भूमंडलीकरण को अपनाया गया जिसने देखते-ही-देखते भारत में अपने पैर पसारने शुरू कर दिए। भूमंडलीकरण की यह प्रक्रिया नई नहीं है। इस विषय में अभय कुमार दुबे लिखते हैं कि "भूमंडलीकरण उस सफर का नाम है जो उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में आधुनिकता ने शुरू किया था। इंसान की सोच-विचार में तरह-तरह की क्रांतियाँ करने का श्रेय आधुनिकता को दिया जाता है, लेकिन उसकी व्याख्याओं में यह पहलू सबसे कम उभर कर आ पाता है कि वह भूमंडलीकरण का वाहक भी है।"[1] भूमंडलीकरण की यह प्रक्रिया एक आयामी नहीं वरन् बहुआयामी है। यह अपने साथ बाज़ारवाद, विज्ञापनवाद, उपभोक्तावाद, भौतिकतावाद जैसे कई अन्य तत्त्वों को भी साथ लेकर चलती है।

भारत में भूमंडलीकरण लाने के पीछे यह दावा किया गया कि यह आर्थिक समानता लाएगी, समाज में व्यक्तियों के लिए रोजगार के नए अवसर प्रदान करेगी, परंतु वास्तविकता में ऐसा कुछ भी होता दिखाई नहीं पड़ता है क्योंकि इसने तो अपनी नीतियों के द्वारा अमीरों को और अधिक अमीर तथा गरीबों को और अधिक गरीब बना दिया है। खुले बाज़ार की व्यवस्था और अर्थनीति ने सिर्फ मनुष्यों के बीच उपभोगवादी संस्कृति को बढ़ावा दिया है। इस भूमंडलीय अपसंस्कृति ने आज एक ऐसे समाज का निर्माण कर दिया है जिसके लिए रिश्ते-नाते, मूल्य, आदर्श कोई स्थान नहीं रखते हैं उनका तो बस एक ही उद्देश्य है कि वह किस प्रकार इस भूमंडलीकृत दिखावटी दुनिया का अहम हिस्सा बने रहें, चाहे इसके लिए उन्हें किसी भी प्रकार की कीमत क्यों न चुकानी पड़े। भूमंडलीकरण के संदर्भ में पुष्पपाल सिंह लिखते हैं कि "दुनिया में कोई वस्तु अलभ्य नहीं है, सहजता से प्राप्य है, बशर्ते आपके पास खरीदने लायक पूँजी हो।"[2] भूमंडलीकरण की इस खतरनाक गति को तीव्रता प्रदान करने में सूचना-प्रौद्योगिकी ने उसके सारथी की भूमिका निभाई है। टेलीविजन, कंप्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट ने भूमंडलीकृत उत्पादों को बड़ी संख्या में ग्राहक प्रदान कर दिए हैं। सूचना-प्रौद्योगिकी की ही देन है कि आज मनुष्य एक क्लिक में दुनिया भर की चीजें देख सकता है, उन्हें खरीद सकता है।

चूँकि साहित्य समाज का दर्पण होता है इसलिए समाज से सम्बन्धित आचार-विचार, संवेदनाएँ सहित्य का अटूट हिस्सा रहे हैं। हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में भी समाज से जुड़े उन सभी पक्षों का उद्घाटन मिलता है जो किसी न किसी रूप में मानव संवेदनाओं से जुड़े होते हैं। उपन्यास भी हिंदी साहित्य की एक ऐसी ही विधा है जिसके विस्तृत क्षेत्र में बदलते समाज के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करने की कोशिश उपन्यासकारों द्वारा की गई है। ममता कालिया का उपन्यास 'दौड़'(2002) एक लघु उपन्यास है लेकिन अपने सीमित आकार में भी उसने ऐसी नश्तर चुभोने वाली बातों की तरफ पाठकों का ध्यान खींचा है जो कि अत्यंत गंभीर है। भारतीय समाज जहाँ सदैव से ही संयुक्त परिवार की प्रथा विद्यमान रही है वही समाज अब धीरे-धीरे एकल परिवार की प्रथा की तरफ बढ़ने लगा है। उपन्यास के दो मुख्य पात्र राकेश और रेखा भी अपने दो पुत्रों के बावजूद एकाकी रहने को बाध्य हैं। जन्मदिन के शुभ अवसर पर मंदिर जाने की परंपरा के स्थान पर इनका पुत्र पवन ग्रीटिंग कार्ड देने की परंपरा का कायल हो चुका है। इस विषय में उपन्यास की यह पंक्तियाँ प्रस्तुत है-

"माँ मेरा जन्मदिन इस बार यों ही निकल गया। आपने फोन किया पर ग्रीटिंग कार्ड नहीं भेजा।"

रेखा हैरान रह गयी, "बेटे ग्रीटिंग कार्ड तो बाहरी लोगों को भेजा जाता है। तुम्हें पता है तुम्हारा जन्मदिन हम कैसे मनाते हैं। हमेशा की तरह मैं मंदिर गयी, स्कूल में सबको मिठायी खिलायी, रात को तुम्हें फोन किया।"

"मेरे सब कॅलीग्स हँसी उड़ा रहे थे कि तुम्हारे घर से कोई ग्रीटिंग कार्ड नहीं आया"

"माँ को लगा उन्हें अपने बेटे को प्यार करने का नया तरीका सीखना पड़ेगा।"[3]

विवाह संस्था भी उसके लिए मात्र एक औपचारिकता है और उससे संबंधित रीति-रिवाज भी उसके लिए कोई स्थान नहीं रखते तभी तो वह खरमास में अपने माता-पिता की इच्छा के विपरीत स्टेला नामक लड़की से विवाह कर लेता है। पवन का

एकमात्र उद्देश्य किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी में अपनी जगह सुनिश्चित करना है और ऐसा करने में यदि उसकी नैतिकता का भी पतन हो तो उसे कोई गुरेज नहीं है। वस्तुत: 'दौड़' उपन्यास भूमंडलीकरण से उपजे बाजारवाद और प्रतियोगिता की अंधी दौड़ में शामिल युवाओं के बदलते तेवर की कहानी के साथ-साथ माता-पिता की अपने बच्चों से अलग होती दुनिया की अत्यंत दयनीय कहानी है। चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'गिलिगडु'(2002) भूमंडलीकरण से उपजी स्वार्थसिद्धता की सोच को दर्शाने वाला एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। भारतीय समाज जो प्राचीन काल से वृद्धों का सम्मान करने वाला उन्हें ईश्वर तुल्य मानने वाला समाज रहा है, वो अब सिर्फ और सिर्फ स्वयं की स्वार्थसिद्धि और एशोआराम के लिए वृद्धों के जीवन उनकी इच्छाओं का गला घोटने वाला समाज बन गया है जिसकी परिणति कभी तो वृद्धाश्रम की चौखटों पर तो कभी श्मशान घाट की लकड़ियों पर होती है। कहाँ तो मातृ-पितृ भक्त श्रवण कुमार का समाज अब मातृ-पितृ बोझ का समाज हो गया है।

'गिलिगडु' उपन्यास भी ऐसे ही दो वृद्धों रिटायर्ड कर्नल स्वामी और बाबू जसवंत सिंह की कहानी बयां करता है। नौकरी से रिटायर होकर बेटे-बहु के साथ रहने की आकांक्षा वृद्ध समाज को कहाँ से कहाँ ले जाती है इसका अंदाजा उपन्यास की इन पंक्तियों से बड़ी ही आसानी से लगाया जा सकता है- "चाय के कुछेक मिनटों बाद बालकनी यानी कि उनके कमरे में झाँककर पूछा जाता- दलिए का डिब्बा खाली पड़ा हुआ है। साँझ से पहले नहीं आ सकता। नाश्ते में क्या बाबूजी चीला खाना पसंद करेंगे? उन्हें याद आ जाता है। परसों बहू सुनयना की चचेरी बहन कुसुम प्रीतमपुरा से मय परिवार के पधारी थी। उनके लिए मुंगौड़े विशेष रूप से बने थे। पिसी दाल बची हुई फ्रिज में रखी होगी। बहू सुनयना को अब तक उसके सदुपयोग का सुअवसर नहीं मिल पाया होगा। संभव है उन्हीं की भाँति औरों से भी सदुपयोग की जानकारी ली गई हो। औरों ने चीला खाने से इंकार कर दिया होगा। वे अनिच्छा प्रकट करने की औकात नहीं रखते। इच्छा-अनिच्छा घरवालों की होती है। घर में आकर रहने वालों की नहीं।"[4] प्रस्तुत पक्तियाँ बाबू जसवंत सिंह से संबंधित है जो कि ऊँचे-ऊँचे फ्लैटों की बालकनी में रहने को मजबूर हैं जहाँ उनके अलावा घर के भींगे वस्त्र, बड़े-बड़े बक्से, कूलर, कई तरह की झाड़ू और न जाने क्या-क्या अन्य वस्तुएँ भी अपनी जगह बनाने के प्रयास में लगे हुए हैं। वहीं दूसरी ओर रिटायर्ड कर्नल स्वामी की स्थिति भी कोई उत्तम नहीं थी। उन्होंने अपने बेटे-बहुओं के उनके साथ रहने की छद्म कहानी बनाई हुई थी पर इसके विपरीत सच्चाई कुछ और ही थी। उनकी एक बहू अनुश्री अपने नृत्य गुरु के साथ चली गई थी और एक बेटा जिसने उन्हें मारने की कोशिश तक कर दी थी सब पर जीवन के अंतिम क्षणों तक पर्दा ही ढाँपते रह गए और अंत में उनकी मृत्यु के पश्चात उपन्यास की यह पंक्तियां उल्लिखित हैं -"उन लोगों ने उन्हें मोरचरी में ही रख दिया था।

बड़े बेटे और उनकी पत्नी माधुरी को बंगलौर सूचित कर दिया गया।

बड़ी कठिनाइयों से संगीत नाटक अकादमी से माधुरी जी का बंगलौर का टेलीफोन नंबर मिला। मिसिज श्रीवास्तव को स्मरण था कि उन्हें पिछले वर्ष अकादमी सम्मान से सम्मानित किया गया था। घर पर नजर दौड़ाने के बावजूद उन्हें कोई अते-पते की डायरी उपलब्ध नहीं हुई। शाम की फ्लाइट से पति-पत्नी दिल्ली आ गए। उन्होंने ही बताया कि दोनों अन्य भाई अड़चनों के चलते दाह-संस्कार में सम्मिलित नहीं हो पाएंगे। ट्रेन से समय पर पहुंचना कठिन होगा। हवाई किराया पहुँच के बाहर की बात है। पहली को कर्नल स्वामी का दाह-संस्कार कर दिया गया। चौथे के लिए रुकने का उनके पास समय नहीं था। फूल चुनकर बंगलौर लौट गए। बताया कि उन लोगों में खासा दुरूह कर्मकांड होता है। वहीं होगा। रिश्तेदारी भी सारी वहीं है।"[5]

भूमंडलीय अपसंस्कृति ने जन्मदिन और मरण के बाद के रीति-रिवाजों को पूरी तरह से बदल दिया है। जन्मदिन के मौके पर मैकडोनल्ड्स जाने की नयी रीति ने बाबू जसवंत सिंह को आश्चर्य में डाल दिया और उनके पोते के मुख से निकले ये शब्द "न, न दादू! अपने साथ हम किसी भी बड़े को नहीं ले जाएंगे, पार्टी बोरिंग हो जाएगी।"[6] यह इस बात को प्रकट करता है कि भूमंडलीकरण ने हमारी अगली पीढ़ियों को जन्मदिन को सभी के साथ मिलकर मनाने की परंपरा के स्थान पर होटलों, क्लबों की परंपरा को मानने के लिए पूर्णतया तैयार कर दिया है। वहीं तेरहवीं के प्रसाद के रूप में पांरपरिक भोजन का स्थान केक और आइसक्रीम के डिब्बों ने ले लिया है। कैसी विडंबना है ये, कि भौतिकतावादी संस्कृति ने इंसान की मानसिकता को इस स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है कि उसके पास जीवित रिश्तों के लिये

कोई संवेदना नहीं है और मरने के बाद की तो बात ही क्या।

काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रग्घू'(2008) भूमंडलीकरण के परिणामस्वरूप संबंधों और संवेदनाओं में आए परिवर्तन तथा वृद्धावस्था के दंश को दर्शाने वाला अत्यंत ही मार्मिक उपन्यास है। उपन्यास का मुख्य पात्र रग्घू न तो पूरी तरह से गाँव को छोड़ पाया है और न ही शहर को अपना पाया है। गाँव के विषय में उपन्यास की ये पंक्तियाँ इस तथ्य को दर्शाती है कि भूमंडलीकरण ने न सिर्फ भारतीय शहरी समाज को अपितु ग्रामीण समाज को भी पूरी तरह से बदल दिया है – "गाँव में बिजली आ गई थी, केबुल की लाइनें बिछ गई थीं, अखबार लेकर हॉकर आने लगे थे। कुछ घरों में टी.वी., पंखें और फोन भी लग गए थे! छौरे पर खड़ंजा बिछा दिया गया था। खपरैलों के कुछ ही मकान रह गए थे, बाकी सब पक्के थे। जो पक्के नहीं थे, उनके आगे ईंटें गिरी नजर आती थीं।''[7]

विवाह जैसे पवित्र संस्था का प्रयोग केवल अपने मुनाफे के लिए करने वाली भावना भी इस उपन्यास के माध्यम से पाठकों को दिख जाती है। रग्घू का पुत्र संजय अपने कॉलेज के प्रोफेसर सक्सेना की बेटी से सिर्फ इसलिए परिणय सूत्र में बंधना चाहता है ताकि वह कैलिफोर्निया जा सके और वहाँ की कम्पनी में एक अच्छे पद पर कार्यरत हो जाए। अपने माता-पिता की सलाह को नकार उसने सोनल से कोर्ट मैरिज भी कर ली परंतु यह विवाह उसके लिए कोई मायने नहीं रखता था जिसकी पुष्टि अपनी पत्नी सोनल से कही, उसकी ये पंक्तियाँ कर देती हैं कि – "मै तो डियर, परदेस को ही अपना देश बनाने की सोच रहा हूँ?" मुसकराते हुए उसने आँख मार कर कहा – "तुम भी क्यों नहीं ढूँढ़ लेती एक ब्यायफ्रेण्ड?"

"अच्छा लगेगा तुम्हें?" उसने सीधे संजय की आँखों में देखा !

"अच्छा" की कहती हो? निश्चिन्त हो जाऊँगा हमेशा के लिए! हा हा हा..."[8]

कुछ ऐसा ही हाल रग्घू की पुत्री सरला का भी है जो शादी अपनी शर्तों के अनुसार करना चाहती है। जिसका मांसल प्रेम समय के साथ बदलता रहा कभी अपने विवाहित और तीन युवा बच्चों के पिता कौशिक सर से तो कभी अपने साथ पढ़ने वाले भारती से। भूमंडलीकरण ने एक ओर जहाँ नारी सशक्तिकरण के रास्ते खोले हैं तो वहीं दूसरी ओर नारी को उन्मुक्त विचारधारा को अपनाने का संबल भी दे दिया है। उपन्यास की ये पंक्तियाँ इसी विचारधारा को दर्शाती हैं- "एक बात गाँठ बाँध लो सल्लों, तुम दोनों एक साथ कर ही नहीं सकतीं। यह समाज ही ऐसा है। प्रेम करो या विवाह करो। और जिससे प्रेम करो उससे ब्याह तो हरगिज मत करो। ब्याह की रात से ही वह प्रेमी से मर्द होना शुरू कर देता है। अगर मुझसे पूछो तो मैं हर पत्नी को एक सलाह दे सकती हूँ। वह अपने पति को अपने से बाहर- घर से बाहर- अगर वह पति का प्यार पाना चाहती है तो- घर से बाहर प्रेम करने की छूट दे; उकसाए उसके लिए! क्योंकि वह कहीं और किसी को प्यार करेगा, तो उसके अन्दर का कड़वापन रूखापन भरता रहेगा और इसका लाभ उसकी बीवी को भी मिलेगा! बीवी ही नहीं, बच्चों को भी मिलेगा! समझा?"[9]

अलका सरावगी का उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' (2008)भूमंडलीकरण के आगमन से भारतीय अर्थव्यवस्था में हुए नए-नए बदलाव, विज्ञापनवाद, बाजारवाद, कारपोरेट जगत की कार्य शैली तथा इन सबसे भारतीय सामाजिक परिवेश एवं रहन-सहन में आई तब्दीलियों को उजागर करता हुआ वर्तमान समाज की पोल-खोल प्रस्तुति करता है। उपन्यास अपने दो प्रमुख पात्रों के. वी. शंकर अय्यर उर्फ के. वी. तथा गुरुचरण अर्थात गुरु के माध्यम से ही बदलते समाज की समीक्षा करता दिखाई पड़ता है। के. वी. के द्वारा कही गयी ये पंक्तियां बदलते समाज को ही दर्शाती है – "जमाना, 'ये दिल मांगे मोर' का है। बस्तर के गाँव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टी.वी. पर वाशिंग मशीन में कपड़े धुलते देख रहा है और डबल-डोर फ्रिज में जाने कब से रखी ताजी लौकी और टमाटर की गाथा सुन रहा है। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ सपने देख रही है- फर्क यही है कि किसी के सपने छोटे तो किसी के ज्यादा बड़े सपने।"[10]

भारतीय समाज में जहाँ पहले बाजार लगने का दिन एवं समय नियत रहता था वहीं अब बाजार एक उंगली के इशारे पर आ गया है। आज हर तबके के व्यक्ति के पास मोबाइल, इंटरनेट की सुविधा उपलब्ध है। पहले व्यक्ति जिन चीजों से अनभिज्ञ था वह सामान भी उसके एक क्लिक पर उसके द्वार पर होता है। बाजारवादी इस चकाचौंध में भूमंडलीय संस्कृति एक ऐसे समाज का निर्माण कर रही है जिसमें विचार, संवेदना, भावनाएँ, सुख-दुख, का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व है तो सिर्फ इस बात का कि समाज में आपका स्टेटस कितना ऊँचा है, कितने बड़े पदों पर आप कार्यरत हैं, कौन से बड़े ब्रांड की चीजें आप इस्तेमाल

करते हैं और क्या आपकी जेब में इतने रुपए हैं कि आप समाज की अंधी होती सोच का खर्च उठा सकें यदि हाँ तो आप वर्तमान सभ्यता के मापदंडों पर एकदम खरे उतरते हैं। बाजार की इस उड़ान को विज्ञापन ने अपने पंख देकर इसकी गति को द्रुतगामी बना दिया है जिसकी अभिव्यक्ति उपन्यास की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है –"अब गए वे दिन जब इंडिया में सरकारी अफसर तय करते थे कि औरतें बाजार से कौन सी क्रीम और लिपस्टिक खरीदेंगी और लोग किस टी.वी. पर कौन सा प्रोग्राम देखेंगे। अब तो देश के दस करोड़ मोबाइल फोन वाले परेशान हैं कि पचासों मॉडल से कौन सा मोबाइल खरीदें। अभी चंडीगढ़ में एक युवक ने मोबाइल का फैंसी नंबर प्राप्त करने के लिए पन्द्रह लाख रुपए दिए हैं और उसके माँ-बाप ने उसकी इस सफलता पर मिठाई बाँटी है। दो करोड़ क्रेडिट कार्ड वाले लोग परेशान हैं कि कौन सा एयरकंडीशन, कौन सा कैमरा, कौन सा वैक्यूम क्लीनर और कौन सा माइक्रोवेव खरीदें।"[11]

इसके अतिरिक्त उपन्यास समाज को प्रभावित करने वाले नए-नए कारकों ग्लोबल वार्मिंग, कार्बन क्रेडिट की बात भी करता नजर आता है। नई तकनीकों से उपजे उपकरणों ने आम आदमी की कमर कैसे तोड़ दी है कैसे वह सिर्फ मशीनों का गुलाम होकर रह गया है, उसकी आवश्यकता से अधिक उपभोग करने की आदत किस प्रकार पर्यावरण को उसके लिए धीरे-धीरे कम बेहतर रहने की जगह बनाती जा रही है। इसकी भी पुष्टि उपन्यास करता दिखाई पड़ता है।

भूमंडलीकरण ने भारतीय आदिवासी समाज के मूल स्वरूप में भी परिवर्तन कर दिया है। इस दृष्टि से रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता'(2009) उपन्यास भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह उपन्यास झारखंड के कोयलबीघा क्षेत्र के भौंरापाट में रहने वाले 'असुर' जनजाति की मूल व्यथा को व्यक्त करता है। उपन्यास में बॉक्साइट खनिज का खनन करके कैसे असुरों का शोषण किया जा रहा इसके अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। बॉक्साइट के खनन के कारण वहाँ के मूल निवासियों को अनेक घातक बीमारियाँ आये दिन अपनी चपेट में ले लेती हैं जैसा कि इन पंक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है – "पिछले पच्चीस-तीस सालों में खान-मालिकों ने जो बड़े-बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी। मुड़ीकटवा से साल दो साल पर भेंट होती है, किन्तु इस जानमारू से तो हर रोज भेंट होगी।"[12]

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ-साथ राजनीति और प्रशासन का गठजोड़ आदिवासी समाज को उनके मूल स्थान से विस्थापित कर उन्हें उनकी ही भाषा, संस्कृति, रहन-सहन को भूल जाने के लिए बाध्य करता है। इनकी सांठ-गाठ ने असुरों को भी अपनी जगह छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया है जैसा कि उपन्यास का एक पात्र रूमझुम स्वयं कहता है कि – "असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़कर बना था यह स्कूल। अभी भी आसपास असुर आबादी है। ज्यादा दूर नहीं बीस-बाईस किलोमीटर के दायरे में लगभग सारी की सारी असुर, बिरिजिया, कोरबा आबादी बसती है। पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति परिवार के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो। मैंने खुद कितनी कोशिश की थी। पिछले दो-तीन वर्षों से कैजुअल शिक्षक के रूप में काम करने की इच्छा है। लेकिन वहाँ भी दाल नहीं गलती। आखिर हमारी छाया से भी क्यों चिढ़ते हैं यह लोग? माड़-भात खिलाकर, अधपढ़-अनपढ़ शिक्षकों के भरोसे, फुसलावन स्कूल के हमारे बच्चे, ज्यादा-से-ज्यादा स्किल्ड लेबर, पिऊन, क्लर्क बनेंगे, और क्या? यही हमारी औकात है। हमारी ही छाती पर ताजमहल जैसा स्कूल खड़ा कर हमारी हैसियत समझाना चाहते हैं लोग।"[13]

आदिवासी समाज जो कि मातृसतात्मक समाज रहा है वहाँ भी अब स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं रही। बढ़ते औद्योगिकीकरण के कारण वे अपने ही जमीन-जंगल से बेदखल हो जाती हैं जिसकी परिणति गरीबी और भुखमरी में होती है और जिसका फायदा उठाकर उनके अपने ही कुछ लोग उन्हें खदानों के ठेकेदारों, अफसरों के सामने प्रस्तुत कर देते हैं –"पाट के दो दर्जन से ज्यादा खदानों के मेठ-मुंशी सब बाहर वाले थे। किसी ने परिवार नहीं रखा था। सबको डेरा में काम के लिए असुर लड़कियाँ ही चाहिए थी। क्यों चाहिए यह बताने की जरूरत थोड़े है! रामचन जैसे बिगड़ैल असुर जवान ही उनके हथियार बनते और बड़ी आसानी से एक-एक डेरा में दो-दो, तीन-तीन लड़कियां खटती दिख जातीं।"[14]

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास आदिवासी समाज की मूल आस्था से खिलवाड़ करने वाले उन सभी प्रश्नों को रेखांकित करता है जो वास्तविकता में भी जीवंत है। आदिवासी

समाज की प्राचीन परंपराएँ, उनकी भाषा आदि पर ग्लोबल संस्कृति ने अपनी जड़ें जमानी शुरू कर दी हैं और वह दिन दूर नहीं जब आदिवासी समाज की विशेषताएँ बीते दिनों की बातें हो जाएंगी। भूमंडलीय संस्कृति ने अपनी छाप इन जंगलों के स्वामियों पर ही नहीं अपितु इनके प्राकृतिक संसाधनों पर भी छोड़ी है। इनके प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इनके जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता का दोहन है जिसे समय रहते न रोका गया तो यह और अधिक गंभीर रूप धारण कर लेगी।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण दौर के हिंदी उपन्यासों में भारतीय समाज के सभी बदलते रूपों को बड़ी ही सघनता से चित्रित किया गया है। भूमंडलीकरण ने भारतीय समाज में उपभोक्तावादी, बाजारवादी संस्कृति को तो बढ़ावा दिया ही है साथ ही साथ मानवीय संबंधों की तहों को भी खोलकर रख दिया है। यह अत्यंत शोचनीय है कि क्या हम कोई ऐसी नीति का अनुसरण नहीं कर सकते कि इन संकटों से उबर सकें। हम भूमंडलीकरण के प्रभाव को नकार तो नहीं सकते लेकिन इसके छलावों में जाने से स्वंय को रोक कर एक मध्यम मार्ग अपना कर जितनी चादर उतनी पाँव पसारने वाली कहावत का अनुसरण करें तो शायद हम किसी सीमा तक इसके चंगुल से मुक्त हो सकते हैं।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1. दुबे, अभय कुमार, भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ,संस्करण 2003, पृष्ठ 27
2. सिंह, पुष्पपाल, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, पृष्ठ 44
3. कालिया, ममता, 'दौड़', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2014, पृष्ठ 46-47
4. मुद्गल, चित्रा, 'गिलिगडु,' सामयिक पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृष्ठ 39
5. वही, पृष्ठ 138
6. वही पृष्ठ 33-34
7. सिंह, काशीनाथ, 'रेहन पर रग्घू', राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण 2017, पृष्ठ 61
8. वही, पृष्ठ 110
9. वही, पृष्ठ 39
10. सरावगी, अलका, 'एक ब्रेक के बाद', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008, पृष्ठ 11
11. वही, पृष्ठ 112-113
12. रणेन्द्र, 'ग्लोबल गांव के देवता', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2017, पृष्ठ 13
13. वही, पृष्ठ 19
14. वही, पृष्ठ 26

◆◆◆

..... पृष्ठ 72 का शेष .....

....की प्रक्रिया साथ-साथ चलनी चाहिए ताकि राष्ट्र को दोनों का मिला-जुला लाभ प्राप्त हो सके।

सन्दर्भ सूची-

1. सिन्हा वी. सी. व पुष्पा, भारतीय अर्थव्यवस्था संरचना एवं समस्याएँ, एस. बी. पी. डी. पब्लिकेशन्स आगरा 2015, पृष्ठ संख्या 3-5।
2. चक्रवती रंगराजन, भारत की अर्थनीति: नये आयाम, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली 2010, पृष्ठ संख्या 148 व 157।
3. शर्मा अनुपम, 'इक्कीसवी शताब्दी में महिलाएँ: समस्याऐं एवं सम्भावनाएँ', अल्फा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली 2013, पृष्ठ संख्या 21।
4. https://www.pushtak.org.
5. पुरी वी. के. एवं मिश्र, भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालया पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली 2017, पृष्ठ संख्या 518-52।
6. https://www.gyancare.com 8 April 2020.
7. https://www.hindilibraryindia.com.

◆◆◆

प्रकाशन शोध प्रक्रिया का अंतिम और अत्यंत महत्त्वपूर्ण चरण होता है। शोध समाज की मूल्यवान उपलब्धि है। इसे समाज के बीच आना ही चाहिए जिससे समस्त मानवता लाभ उठा सके। प्रकाशन के सीमित अवसर शोध को संकुचित करते हैं।